

संपादकीय

दिनेश सिंह

‘नये-पुराने’ का प्रस्तुत गीत अंक-4 आपके हाथों में बहुत विलम्ब से पहुंच रहा है। दरअसल गीत अंक-4 जो कई महत्वपूर्ण और वरिष्ठ गीतकारों के समवेत संकलन के रूप में निकल रहा था और जो लगभग ‘कम्पोज’ भी हो गया था। डॉ० रवीन्द्र भ्रमर और बाबा नागार्जुन के हमारे बीच से अकस्मात उठकर चले जाने की वजह से उसे रोक देना पड़ा, क्योंकि पहले इनकी यादों को संजाना जरूरी समझा गया। अतः प्रस्तुत अंक की सामग्री नये सिरे से मँगानी पड़ी और भरे मन से स्मृति शेष खंड नियोजित करना पड़ा। यों दिक्कतें और भी आईं पर वह ‘नये-पुराने’ की अन्तकथा है। गीत का वह रूप जिसे नवगीत कहा जाता है अपनी भाषा और लय में एक नई करवट ले रहा है। आम बोलचाल की भाषा से उसका लगाव बढ़ रहा है और वह अपने सृजन में जटिल स्थितियों को बहुत सहज अन्दाज में कहने को आतुर है। कुछ गीतकार इस नई लय को रोजमर्रा की जिन्दगी से जोड़ने में सफल भी हो रहे हैं। समकालीन कविता-संदर्भ में गीत के लिए यह एक शुभ लक्षण है। क्योंकि गीतों में आईं हुयी वैचारिकता को इस भाषा-लय के माध्यम से रागात्मक भावभूमि भी मिल रही है जो गीत की निजी भावभूमि है। इस ओर कुछ गीतकार बहुत सक्रिय हैं। उनका कहना है कि काव्य के स्वस्थ विकास की यह अनिवार्य शर्त है कि हर पीढ़ी कथ्य-भाषा-शिल्प स्तर पर उसका नया संस्कार करे, उसे और उसकी परम्परा को एक नया अर्थ दे, एक नया मोड़ दे। विचारधारा का जो प्रवाह इन दिनों गीतों से उठा है उसके संदर्भ में मान्यता है कि रागात्मक विचारधर्मिता ही मनुष्य की स्वाभाविक एवं सहज दृष्टि है, उसी में उसकी स्वस्थ परिणति है। वैचारिकता जब रागात्मक भावभूति बनकर उपस्थित होती है, तभी काव्य के स्फुरण की पीठिका बनती है। वे यह भी कहते हैं कि गीत इस समय एक संक्रान्ति काल से गुजर रहा है और गीत के एक नए स्वरूप की भूमिका इन दिनों बन रही है। सो लगता है कि गीत समकालीन कविता में अपनी जोरदार दस्तक देने के लिए रूढ़ियों से मुक्त होकर अपना नय और युग सापेक्ष-संस्कार गढ़ रहा है। हो सकता है कि यह संस्कार आगे चलकर ‘नये-पुराने’ द्वारा नामित मुक्तगीत का ही संसार रच सके जहां, सोच की रूढ़ियों और एक निश्चित डिजाइन और नाप के पहनावे से उसे मुक्ति मिल सके। और राहत भी।

गीत मूलतः राग भरे आवेग की रचना है सो वह यथार्थ के जटिल संवोगों को संभालने में दरक जाएगा-ये शंकाएँ और चिन्ताएँ अब पुरानी पड़ गई हैं। कोमल शब्दों की सांगीतिक दबावों का बल भी काफी ढीला पड़ गया है। साथ ही विषय वस्तु के स्तर पर बच्चन की ऐकान्तिक, वैयक्तिक व अवसादपूर्ण आवेग की अवधारणा भी धूमिल हो चुकी है और गीत सामाजिक चिन्ताओं से जुड़कर ‘दादुरि धुनि चहुँदिशा सुहाई’ वाले मंजर के बीच अब समय के घटाटोप के नीचे पल रही प्रवृत्तियों विसंगतियों पर ध्यानस्थ है और आदर्श के राग पर यथार्थ की अभिव्यक्ति का दावेदार बन चुका है। छन्दमुक्त कविता ने भी गीत के वर्तमान स्वरूप (फार्म) को हथियाने में काफी मदद की है। क्योंकि नई कविता ने ‘अर्थ की लय’ तलाश कर गीत के लिए समकालीन जीवन की लय का द्वार खोल दिया और अपने विराट अनुभव बिम्बों को गीत समवेदना में भी पचाने का अवसर दिया। ये अवसर अब पलटकर समकालीन कविता को भी अपने गीत राग से प्रभावित करने लगे हैं, उसे आकर्षित करने लगे हैं। यही से छन्दमुक्त कविता और आज के नये गीत में संवाद और अन्तर्भेद की स्थितियाँ झलकने लगी हैं इन स्थितियों को जानने-परखने के लिए इस अंक में आप एक नये खंड ‘संवाद और अंतर्भेद’ से गुजरेंगे जो समकालीन कविता के इस नए रूप-स्वरूप को विश्लेषणत्मक आधार पर बखूबी प्रस्तुत करता है। हाँ इतिहास और वर्तमान जीवन की अन्योनाश्रित वकता अपने स्वरूप में फिक्स-डॉचागत न होने के कारण तथा अपने सामान्य विकासशील स्वभाव की वजह से कविता भी ग्रहण करती है सो इस मौके पर अभिव्यक्ति में प्रायः वक हो जाती है जिसे नई कविता तो अपने संवेदन विस्तार में उसे आसानी से समेट लेती है क्योंकि उसके सारे औजार पहले फुटकर हैं बाद में एकात्म। लेकिन गीत बहिरंतर से पूरी तरह लयात्मक होने के कारण ऐसे में अपनी मूल लय से थोड़ा सा हट जाता है जिसे कुछ गीतकार वर्तुलाकार लय का चमत्कार मानते हैं। नई कविता की लय-अर्थ के लिए शब्दों के सम-विषम कम के सार्थक संयोजन से होती है अतः कितना भी वक होने पर भी उसमें फैलाव या टूटन का आरोप मुश्किल से लगाया जा सकता है। किन्तु गीत में उसकी अपनी निजी लय भी है जो मानवीय राग पर कसे जीवन-मूल्यों पर आधारित है। अतः इसी लय के अनुरूप गीत शब्दों का संयोजन स्वयं करते हैं गीतकार को तो पूरी रचना प्रक्रिया में केवल अपनी अनुभूतियों के तनाव का दबाव भर ही बराबर बनाए रखना पड़ता है। गीत पंक्ति में शब्दों की आमद भी इसी लय के कम में होती है और अर्थ की ध्वनियाँ एक सांगोंपांग केन्द्रीय गूँज से ध्वनित होती रहती है। आज के जटिल जीवन के अनुभव लोक में बहुत कुछ ऐसा भी घटित होता रहता है जिसके लिए गीत का ढाँचा अपर्याप्त हो सकता है। इस प्रकार विद्रूपताओं को गीत अपने तरल बिम्बों, संकेतों से नहीं संभाल पाता है तो वह गीतपरक विन्यास के साथ छन्दमुक्त कविताओं में प्रकट हो सकता है, और उसमें गीतों के अनुभव-लोक की आत्मीयता और अंतरंगता बरकरार होने के कारण ढाँचा बहुत रागात्मक हो जाता है, तथा स्वर पूरी तरह संवादी हो जाता है ऐसे संवादी स्वरों से जीवन की लय प्रत्यक्षता महसूस होने लगती है। यही कारण है कि प्रायः जो लोग गीत की दुनियाँ से होकर छन्दमुक्त कविता के संसार तक पहुँचे हैं उन्होंने प्रतिक्रियावादी संकीर्णताओं तथा प्रगतिवादी दुराग्रहों से समान रूप से जूझते हुए समकालीन कविता में अपना अलग रास्ता बनाया है और राग तथा लय के फेर से अपने को छुड़ाने का जतन जुटाने के बावजूद

भी वे अपने विचार संघर्षों में मानवतावादी दृष्टिकोण का ही पोषण करते रहे हैं। जहाँ कहीं भी वे विद्रूपताओं के प्रति बहुत आक्रामक भी हुये हैं वहाँ भी उन्हें यह मानवीय राग भाषा और भंगिमा स्तर पर उनकी अभिव्यक्ति को पकड़कर रागजनित बनाए रहा है और वे पूरी ताकत से हुमकने पर भी मानवीय मूल्यों के अनुशासनात्मक दायरे से बाहर नहीं जा पाये हैं। भारतीय कविता के घेरे में ही उनका रचनाकर्म फलीभूत होता रहा है। छन्दमुक्त कविता का ऐसा साहित्य बहुत विस्तृत फलक पर अंकित है—बहुत बड़े रचना क्षेत्र की पूँजी है उसके पास। अतः एक—दो सर्जकों के उद्घरण देकर इस बात को सिद्ध करने की कोई बड़ी जरूरत नहीं महसूस होती।

गीत की संवेदना एवं छंद मुक्त कविता की संवेदना अलग—अलग हो सकती है, किन्तु इनके आपसी संश्लेषण से जो एक नई संवेदना सृजन के साथ हो लेती है वह पूरी रचना को मानवीयता यानी भारतीयता यानी माटी की गंध से भर जाती है और स्वयं रचना की पहचान भी बन जाती है। छंदमुक्त कविता में ज्ञानात्मक संवेदन, वैचारिक द्वन्द और विश्लेषणात्मक लय की वृत्ति का जोर होता है पर गीत अपने भावबोध की अनिवार्य रागात्मक लय से जुड़े होने के कारण यथार्थ के बाने को आदर्श के ताने में तानकर प्रस्तुत करता है। यथार्थपरकता को आधुनिकता के सांचे में ढालने से गीत नहीं मिलता। वहाँ आदर्श के खाँचे में यथार्थ को उतारना पड़ता है। आज के गीतों में इसी यथार्थ और आदर्श की द्वन्दात्मक वृत्ति अधिकांश रूप से मिलती है। जहाँ पर गीतों में छन्दमुक्त कविता या नई कविता के लटकों को लटकाने के फैशन की बात है वहाँ वह विधा के प्रबल प्रवाह की ही बात है। नवगीत में ऐसे लटकों के झटके बहुत हैं और वह केवल इस सच्चाई की वजह से है कि वह बिम्बों से चमत्कृत होता है, (जैसे केदारनाथ सिंह का गीत धान पकेंगे) फिर नई कविता पूरी—पूरी बिम्बवादी कविता है सो उसे छू पाने और उससे आगे जाने की हड़बड़ी में गीत को भी बिम्बों से ऐसे लैस किया जाता है जैसे उसे किसी लड़ाई पर भेजा जा रहा है बगैर उनकी इस मानसिकता को जाने—समझे कि कहीं वे आपस में बैर का भाव तो नहीं रखते या कि कसे जाने पर अपने लक्ष्य से भागते तो नहीं या उनमें कहीं कोई दृष्टिदोष तो नहीं है या वे अपने पहनावे ओर अपनी भाषा से किसी और कौम के तो नहीं लगते? यानी नये—नये बिम्बों की पुलिसिया अन्दाज में जबरिया धर—पकड़ और उन्हें प्रायः लोकरंगों में पेश करने की ऐसी बेकली कि चटकीले विशुद्ध रसायन में डुबो—डुबोकर उन्हें पस्त कर देने की धुन—सी। इसी लिए तो नवगीत को बार—बार यशः कामी (डॉ० सत्येन्द्र शर्मा के शब्दों में) कहने का मन होता है

अतः आज के गीतकार को समसामयिक विचार साहित्य का अध्ययन भी होना ही चाहिए जिससे वह अपने सांस्कृतिक संरक्षण के लिए यथार्थ को आदर्श के सापेक्ष अपनी मनोलय में आत्मसात कर सके और अपने काल बोध को भी प्रमाणिकता दे सके। ऐसे में उस पर लिजलिजी भावुकता का दुराग्रही आरोप लगाना भी स्वयं ही मुश्किल हो जाएगा। वहीं गीत आगे चलकर पहचाने जायेंगे जिनमें वैचारिक यथार्थ बोध राग की आग में पककर लोकमन से निसृत होगा और इस द्वन्द—मन में जीवन की जीत का स्वर सबसे ऊपर होकर गूँजता हुआ सुनाई पड़ेगा। समकालीनता की दहलीज पर खड़ा यह परिवर्तन भाव गीत की कुन्डी खटपटा रहा है। अज्ञेय ने किसी संदर्भ में कहा भी है “हमारे गोचर अनुभवों का संसार हमारे काल और दिक् से ही सार्थकता प्राप्त करता है”। यह वहीं काल है जिसमें हम जीते हैं और वह भी जो हममें जीता है। काल का यही द्वैत अनुभवों को रचना में बदलता है। तो जरूरी है कि गीतों में भी इस काल बोध को पहचाना जाए और यथार्थ को अपने मानवीय मूल्यों की कसौटी में कसकर रागयुक्त गीतात्मक लय में कस—मथकर साहित्य में सिरजा जाए। गीत का ज्ञानात्मक संवेदन एक विशिष्ट प्रकार का संवेदन है जो रूक्ष संवेदन तंत्र से न फूटकर आहतमन के स्थिर आवेगों की घनी अनुभूतियों से झरता है जहाँ भावबोध में विचारों की संश्लिष्टता शर्बत में चीनी की मिठास सी हो जाती है।

पिछले अंक में ‘नये—पुराने’ की ओर से गीत में ज्ञानात्मक संवेदन की बात उठी थी। लगभग उसी परिप्रेक्ष्य में गीत में काल आयामों का संदर्भ देते हुए डॉ० वीरेन्द्र सिंह ने अपने आलेख में विचार साहित्य के अध्ययन में गीतकारों की कमजोरी को इंगित किया था। उसमें भी नवगीत के संवेदन को अपने मूल संवेदन के साथ इस विशिष्ट रूप को प्राप्त करने की जिज्ञासा थी। दरअसल गीत में ज्ञानात्मक संवेदन की बात ‘नये—पुराने’ की ओर से कोई नई बात नहीं है। संवेदन की इस राह का संकेत पहले भी कविता संदर्भों में आया है। हाँ बात अपने विकास क्रम में कुछ आगे जरूर बढ़ गई है जो आज जरूरी भी है। यह ज्ञान का संवेदनपक्ष गीत का अध्ययन कक्ष है जो उसकी संवेदना को प्रौढ़ बनाकर उसे कोरी भावुकता से अलग करता है। भावुकता तो कविता की माँ है सो वह आवेगों का श्रोत है, गीत के लिए जो जरूरी तत्व है। किन्तु परिवेश को रचना में पचाकर अभिव्यक्ति के स्तर तक लाने के लिए यह संवेदन सार्थक रूप में सक्रिय हो सकती है इसका अर्थ यह भी नहीं कि आज गीत वैयक्तिक सुख—दुःख, राग—विराग का अनुशीलन नहीं कर सकता। जो वैयक्तिक नहीं है वह सामाजिक कैसे हो सकता है? एक की वैयक्तिकता यदि लाखों—करोड़ों की वैयक्तिकता है तो यह वैयक्तिकता होकर भी सामाजिकता ही होती है। गीत की तो यही सामाजिकता है। आज अपनी ही धुन में मगन एवं व्यवहार में आत्मकेन्द्रित होते जाते समाज में ऐसी ही सामाजिकता रचना कर्म के लिए अधिक प्रासंगिक लगती है क्योंकि गीत जो दर्द भोगता है, उसे बाँटता भी है और बटवारे में खुद भी हिस्सेदार के रूप में शामिल रहता है। इस प्रकार एक का दर्द अनेकों का दर्द बन जाता है। ऐसे गीतों की यही सामाजिकता है कि उनमें समाज को बांधने की बड़ी ताकत होती है। इतिहास गवाह है कि सांस्कृतिक संक्रमणों के दौर में राग और लय की ऐसी सांगीतिक संगतियों के बिखरे हुए सामाजिक संदर्भों में एक सूत्रता और एक रूपता लाने में अपनी खास भूमिका निभाई है।

गीतों की लोक सम्पृक्ति का जहाँ प्रश्न है वहाँ ‘नये—पुराने’ का मानना है कि वह गीत का महत्वपूर्ण तत्व है। पर उसे

गीत में औजर बनाने के लिए जरूरी नहीं है कि लोकभाषा के शब्दों की भरपूर उपस्थिति के रूप में ही देखा जाए। या केवल लोक धुनों को ही रचना में स्थूलतः साहित्यिक माहौल दिया जाए। गीत की लय को सांस्कृतिक लय यानी भारतभूति की मिट्टी में धड़क रहे तीन चौथाई से अधिक जीवन (लोक जीवन) की लय में पिरोया जाये। आगे आने वाले समय के लिए यह गीत संदर्भ का एक जरूरी संकेत है। दूर-संचार के संसाधनों की गहमा गहमी में चल रही पदार्थीकरण की तेज प्रक्रिया के कारण विचारधारा पर तकनीक के पूर्ण आधिपत्य की भविष्यवाणियों के प्रभाव को हिन्दी कविता का यह गीत-स्वरूप ही क्षीण कर सकेगा। क्योंकि इसमें मिट्टी का वह ताप बरकरार है जो समाजिक इकाइयों में वैचारिक संगठन के क्षरण के दौरान भी उन इकाइयों की इयत्ता और सत्ता सुरक्षित रख पाने के लिए मानवीय आस्था और विश्वास का संवल देकर उसे यथावत शक्तिमान बनाए रखने में सहायक होगा। आधुनिकतावादी सोच में भौतिक पदार्थों के संश्लेष से ही जीवन चेतना के अभ्युदय की बात इस देश भूमि के परिप्रेक्ष्य में एक भ्रामक अंदेशा भर रही है। पश्चिम में डूबते हुए सूरज की ओर देख-देखकर केवल भयातुर होते रहने की सिहरन भर है। या फिर संभावनाओं के अतिवादी छोर में खुद को जकड़ने की मिथ्या लालसा भर है। लोक सम्पृक्ति का सूत्र आज के गीत का वह सूत्र है जो आधुनिकता को भारतीय साँचे में रखकर तराशता है और भारतीय हिन्दी काव्येतिहास को मजबूती देता है। गीतसंस्कृति में वर्ग चेतना नहीं लोक जीवन की गहरी साझेदारी होती है। उमाकांत मालवीय जिस वजह से नई पीढ़ी को परिष्कारों से दरिद्र घोषित करते हैं उसके पीछे लोक जीवन की इसी साझेदारी का अभाव उन्हें दिखा होगा। अपने भारतीय संस्कारों की समझ और उसे अपने अधुनातन जीवन में 'लय' की तरह पकड़ पाने की अयोग्यता-असमर्थता भी दिखी होगी। सो लोकजीवन की साझेदारी गीत-नवगीत में प्रमाणित कराने के लिए जरूरी नहीं है कि लोक में प्रचलित शब्द समूहों की सरणियां बनाई जायें या उन सरणियों के रंगीन तागों से बूटों की तरह लोक-बिम्ब ही काढ़े जायें। बात अंततः उसी लय की आती है कि लोक जीवन की वह विशिष्ट लय उसमें समाहित होनी चाहिए जो लोक-संवेदना या भारतीय जीवन की मौलिक संवेदना से फूटती है। इम्मुनाथ सिंह जब कहते हैं कि नवगीत भारत की आत्मा को प्रतिबिम्बित करने वाली कविता है तो वे भी उस आत्मा के स्वरूप को इसी संवेदना से जोड़कर देखते हैं और तभी ओम प्रभाकर भी यह कहते हैं कि नवगीत भारतीय चिन्तन की काव्यधारा है। अर्थात् नवगीत में जहां भरतीयता की बात आती है वहीं लोक संवेदना से निवृत्त लय की बात आती है। यही मानवतावादी सोच है और यही गीत का सैद्धान्तिक चिन्तन भी होना चाहिए।

'नये-पुराने' के गीत अंक-3 में श्री गुलाब सिंह ने 'वंशी और मादल' (ठाकुर प्रसाद सिंह) पर पुनर्विचार की जो अपेक्षा की है शायद इस मान्यता को स्वीकारते हुए कि समय के किसी पृष्ठ पर स्वर्णाक्षरों में अंकित किसी कृति के परीक्षण में समीक्षकों के बीच दृष्टिगत भेद भी हो सकता है, फिर भी इस पुष्ट रचना पर कोई फर्क नहीं पड़ता। वह अपनी जगह दमकती रहती है-मूल्यांकन की अगली कतारों के इन्तजार में। वह ठीक ही है। नवगीत की शर्त ही है इतिवृत्तात्मकता का त्याग तथा संक्षिप्त एवं त्वरा से गुंथा गीत का विन्यास। इन शर्तों पर यह कृति पूरी-पूरी खरी उतरती है। फिर लोकतत्व से गुंथी गीत की ऐसी सांगोपांग कृति जो अपने समय में एक घटना की तरह आकस्मिक रूप से आई उसका आकलन और विश्लेषण सही रूप में नहीं हुआ या होने नहीं दिया गया। वंशी और मादल के गीत देश के जिस भूभाग की मिट्टी से महकते हैं, चाहें वह संधाल की हो या बंगाल की ही, है तो इसी देश की, लेकिन इतना तय है कि इन गीतों में लोक-राग की लय ने कविताओं कला-जीवन और समय (साहित्यिक) से एक साथ जोड़ा है और यह भी कि गीत की मनोलय से झरता हुआ जातीय भाव बोध भारतीय चेतना की समग्रता में इन गीतों के साथ धार-धार बहने लगता है जिसमें कवि अपने व्यक्तित्व का विसर्जन कर देता है। कवि की रचना और समाज के प्रति यह एकात्म अंतरंगता गीत को बहुत ताकतवर बना देती है-जो इसके पहले समग्र रूप में इतना ताकतवर नहीं था। यह भी ध्यान देना है कि वंशी और मादल के गीतों की लय में लोक जीवन के सजल बिम्ब इस प्रकार झलकते हैं कि अभिव्यक्ति के पटल पर अर्थान्तरों की तमाम सतहें उभरती रहती हैं। अतः यह भी तय है कि उसे पीछे जाकर नवगीत का इतिहास और ऐतिहासिक प्रवृत्तियों को तलाशते समय वंशी और मादल पर आकर पुनर्विचार के लिए थोड़ी देर टिकना पड़ेगा और उसे विशेष प्रवृत्ति के रूप (समग्र लोक चेतना न कि आंचलिकता) में चिन्हित भी करना पड़ेगा। अन्यथा नवगीत का इतिहास ईमानदारी का इतिहास नहीं बन सकेगा और सारा तान-वितान संदिग्ध ही लगेगा। क्योंकि जिस रचना में इतनी मुद्राएं हो, इतना विस्तार हो, इतनी संघर्ष शक्ति हो, इतनी उत्तत संवेदना हो, आग और राग का इतना सामंजस्य हो जातीय बोध का इतना गुमान हो, परम्परा से पोषित होते रहने का सौभाग्य हो और साथ में उत्तर आधुनिकता के हौवे से लड़ने का कौशल हो और जिसके पास नवगीत के जन्म का प्रथम साक्ष्य हो, उसे गीत के मंच पर एक छोटा सा रोल देकर नेपथ्य में ढकेलने से सूत्रधार की आँख की किरकिरी भी दर्शकों को साफ दिखाई पड़ सकती है।

वास्तव में गीत की नवता का जो अलक्षित इतिहास अपने आप भीतर ही भीतर अपना रचाव कर रहा था उसे वंशी और मादल ने पकड़कर सरेआम कर दिया। यह गीत दृष्टि गीत के इतिहास को प्रखर दीप्ति से भर देने की ही थी। आज के नवगीत का इतिहास चाहे निराला से शुरू किया जाये, चाहे माखनलाल चतुर्वेदी से (निराला में अपने को सर्वमान्य साबित करा पाने की कुव्वत सबसे ज्यादा है) वंशी और मादल के स्वर वहाँ तक की यात्रा में विशिष्ट से सुनाई पड़ते ही हैं। गहरे जाकर देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि ये स्वर भी सामाजिकता के ही स्वर हैं किन्तु उनमें लोक अभिव्यंजना का दबाव सबसे प्रखर है। यह विडम्बना है कि नागर प्रधान सांस्कृतिक समाज में आज लोक चेतना के बीज तलाश नहीं मिलते। वे जो इन सांस्कृतिक अंचलों से भागकर शहर आये भी वे उपर्जन की आर्थिक सोचों में केन्द्रित होने के कारण शेष सामाजिक जीवन पर अपना भरपूर सांस्कृतिक प्रभाव नहीं छोड़ पाते। यदि कोई प्रभाव उनके सांगठनिक समूहों से उत्सर्जित भी होता है तो स्थायित्व की चिन्ता में लगा समाज भी

सदैव अपनी असुरक्षा के भय से ग्रसित होने तथा गति की अनिवार्य चेतना से जुड़े होने के कारण उस सामूहिक लोक जीवन का भोक्ता या ठीक-ठीक दृष्टा भी नहीं बन पाता। लोक जीवन के जो आदिम संस्कार उसे जन्मना मिलते भी हैं वे भी नगरीय संस्कृति की गणितीय मानिसिकता में दब-कुचल जाते हैं। जानकारियों का क्षेत्र जरूर व्यापक हो जाता है सो ऐसे नगरीय जीवन की संवेदनाएँ नई कविता को अधिक रास आ सकती हैं गतिशील सामाजिकता का एक प्रखर पक्ष उनके साथ होता है और वे अपने रचना कर्म में अधिकाधिक बौद्धिक होती हैं जहां चित्त की प्रवृत्तियों का भी उसी बौद्धिक आयाम में निरस्तीकरण हो जाता है। रागरंजित चित्त की संगति लोक जीवन में अधिक होती है जो गीत की ही चित्तवृत्ति है। वंशी और मादल के गीतों को मात्र परकीय बोध के गीत मान लेना सरसरी नजर का ही कमाल हो सकता है पर ऐसा मानना या परकीयबोध के दायरे में उन्हें घेरना उसकी अर्थलय को सीमित करना ही है। उदाहरण के रूप में उसका एक गीत बहुत चर्चित है—'वासंती रात के विहल पल आखिरी'। यह नितान्त रागबोध का गीत है जो अपने लक्ष्य में यथार्थपरकता को ही तरजीह देता है। इस गीत का राग वंशी बताने वाले से अधिक वंशी के स्वर से जुड़ा हुआ है। बजाने वाला तो समक्ष कहीं हैं नहीं, फिर वासंती रात की विदा वेला में विहल पलों का परिवेश वंशी स्वर को और मादक तथा रागात्मक बनाता है तथा संवेदनाओं को कुरेदता भी है। लेकिन यथार्थ की जमीन पर बिछे आधे आँचल में उसका 'पिय' थका—मांदा पसरा है। इसलिए उस स्वर का सम्मोहन धीरज की गाँठ खुलने के बाद भी उसे अपने श्रोत के पास खींच नहीं पाता और मन पांसुरी तोड़ता रह जाता है। यह लोक राग की यथार्थ से संगति का गीत है जो परंपरा और यथार्थ के द्वन्द को रेखांकित करता है और अंततः गीत यथार्थ के पक्ष में कुछ अधिक चला जाता है। यहां राग और आस्था दोहरी भूमिकाओं से सम्बद्ध है।

यह गीत तत्कालीन गीत-मन का संकेत है। यह वही मन है जो समय की शिला पर मधुर चित्र उकेरता है (शम्भुनाथ सिंह) और बाद में संघर्ष की उद्दाम चेतना के क्षणों में बादल को धिरते देखता है (नागार्जुन), कहीं बहुत जिजीविषु होकर बबूल पर नये बये के घोसले निरखता-परखता है (शिवबहादुर सिंह भदौरिया) और धारा के बीचों-बीच घर बनाकर रहना चाहता है क्योंकि अगम जल की सोनमछरी मन में बसी है (रवीन्द्र भ्रमर) वहीं मेलों-हाटों को बाजारों में बदलते हुए देखकर यह गीत कराह भी उठता है कि 'बकरी के मोल बिके बच्चे उमराव के' (देवेन्द्र कुमार) वही रोटी की जुगाड़ में परदेश गए बेटे के घर से छूटे हुए मन का दर्द उकेरता है—'बेटा परदेश में न सो सका (उमाकान्त मालवीय), वही सामाजिक सुविधाओं के बँटवारे की असमानता में विशिष्ट इकाइयों के विशिष्ट बल की भूमिका की ओर संकेत भी करता है—'नहर गाँव भर की है पानी परधान का' (गुलाब सिंह) और वही अपने राग के प्रति आश्वस्त होकर आज भी कहता है कि—'कैसे मानूँ सपनों वाले कमरे में रहना है मुश्किल' (कुमार रवीन्द्र) आदि-आदि।

दरअसल गीत अपनी संज्ञा से ही मजबूर है (संगीत युक्त गान की ध्वनि जो छिपी है उसमें)। यह संज्ञा ही सर्वव्यापी आजादी के इस दौर में उसके लिए पिंजरा बन गई है। मान लिया जाता है कि उसे उसके भीतर ही गाना और चहचहाना है। आधुनिक भावबोध-रागबोध, और वैज्ञानिकतावादी विश्लेषणात्मक दृष्टि बोध के साथ स्वर मिलाने पर उसकी पहचान का संकट खड़ा हो जाता— ऐसा कोई भी सोच सकता है। पर आज जहाँ भावावेगों पर ज्ञान का दबाव, वैज्ञानिक व विश्लेषणात्मक बोध, सामान्य कार्य व्यापारों तक में व्याप्त हो रहा है वहाँ गीत को समय सापेक्ष आजादी इसी नाम संबोधन से भोगने को क्यों नहीं मिल सकती, आदि। गीत के विकास का नाम नवगीत है तो यह नवगीत के विकास की बात है और फिर-फिर यह गीत की ही बात है। आज भी नवगीत की दुनिया में उसकी विकासशील प्रवृत्तियों, उनके प्रभावों, नई मान्यताओं, स्थापनाओं की चर्चाएँ कम, उसके इतिहास लेखन की चिन्ताएँ अधिक हैं। जहाँ इतिहास की बात है, वहाँ नवगीत अबूझ है, जटिल है और तमाम गाँठों से गँठा हुआ है। नवगीत के प्रवर्तक के रूप में निराला का नाम प्रायः लिया जाता है। जहाँ से 'नवगीत' नाम-सम्बोधन तथा उसके आन्दोलनात्मक रवैये की बात शुरू हुयी वहाँ से निराला कहीं पीछे खड़े थे। बीच में तमाम गीत, गीत ही गीत या अज्ञेय, जगदीश गुप्त जैसे कवियों-समीक्षकों की अधिकारिक जबान पर 'कविता के नये गीत' स्वीकृत थे। उत्तेजक पीढ़ी का पदार्पण हो चुका था फिर भी गीत में कोई खास उबाल नहीं आया था। हर विधा अपने समय के साथ अपने उत्तरोत्तर विकास कम से जुड़ी रहती है, उसमें से निथरकर परिवर्तनों के संकेत आते ही रहते हैं, नए प्रयोगों, खोजों की ललक बनी ही रहती हैं। सो गीतों में भी कुछ नये प्रयोग, कुछ नई अर्थ ध्वनियाँ, प्रेम के नये राग और क्षेत्र-विस्तार की कोशिशें तथा स्पष्टता या सहजता-सरलता आदि-आदि ढूँढने से मिल ही जाते हैं। छायावाद के समय भी और उसे अधिक अनुपात में छायावादोत्तर काल में भी और अधिक बाद में भी। आगे भी यह कम ऐसे ही जारी रहेगा—(यदि विधा ही मृत घोषित न कर दी गई) जिसे नवगीत कहते हैं, उसके तमाम टूटे-फूटे संकेत, फुटकर भंगिमाएँ छायावादोत्तर पीढ़ी से लेकर अब तक मिल जायेंगी। आज तो सभी नवगीत लिख रहे हैं—जो पारंपरिक लिख रहे हैं वे भी पूरी तरह वैसे पारंपरिक नहीं हैं जैसे शुरूआती दौर में रहे। यह एक परिवर्तन समाज की स्वाभाविक प्रक्रिया है पर गीत में उबाल आया सन् 60 के आस-पास जब नयी कविता में अज्ञेय की अवधारणा काफी बलवती हो गई और समूचे काव्य दृश्य पर छाने लगी या छा गई। तीन सप्तकों के प्रकाशन के दौरान और काफी बाद तक भी हिन्दी कविता अज्ञेय के इर्द-गिर्द सिमट गई। इनमें कुछ गीत भी उनके घेरे में गए जो नए संकेतों से सम्पन्न थे। या जिनमें लीक से हटकर कुछ नयापन था। संयोग से उसी समय ठाकुर प्रसाद सिंह के गीत आए—बासी कढ़ी में उबाल जैसे नहीं बल्कि नई लोक चेतना से संश्लिष्ट, नई लोक अभिव्यक्तियों की भंगिमाएँ पहने, अर्थान्तरों के व्यापक क्षितिज समेटे, राग और आग से श्लथ, संक्षिप्तता में कसे और त्वरा से फूटे तत्कालीन कविता जैसे साथ ही गीत जैसे भी, एक नई लय के। अज्ञेय ने भी कविता के पृष्ठ पर नोट किया और वह

तुरन्त कविता की संपूर्ण धारा में समाहित होने को बेचैन हो उठा—नये गीत के रूप में। इस समय तक लोक की लय पर अप्रतिम सौंदर्य बोध और सौम्य जातीय अस्मिता को सहेजे शिवबहादुर सिंह भदौरिया के गीत 'धर्मयुग' में आये जो किसी अंचल विशेष की माटी से प्रेरित न होकर भारत की समग्र आभा से अनुप्राणित होकर प्रकृति की रंगीन एवं उदात्त छवियों से दीप्त थे। लेकिन तब तक 'धर्मयुग' का कविता मंच निहायत मानवतावादी तथा सौंदर्यबोधी मान लिया जा चुका था। पर ये रचनाएँ गांव में बसे एक संत मिजाज कवि की रचनाएँ थीं जाने कैसे 'धर्मयुग' तक ही पहुंच गईं। यही वाह्य श्रम अचेत रचनाकार के लिए बहुत रहा होगा। इसलिए उनका कोई विशेष नोटिस नहीं लिया गया। दो-चार दिग्गजों की नजर भी पड़ी। उन्होंने उनकी तारीफ में अपने ढंग से कुछ कसीदे भी काढ़े पर इस देश में पढ़े-लिखे लोग गांव के साथ जो वर्ताव बरतते हैं—वहीं भदौरिया के गीतों के साथ गीत के ग्रेजुएट भी बरत गए। काशी में शम्भुनाथ सिंह तब तक 'समय की शिला पर मधुर चित्र' उकेर चुके थे। पर अब यही वह समय था जहां से नवगीत का पलीता सुलगा—नवता की अलक्षित अवधारणा को गीतों में ढालने के लिए रूढ़िग्रस्त पर्वत श्रृंखलाओं को तोड़ने के अभियान के नाम पर। इस अभियान में शम्भुनाथ सिंह के कार्य को बहुत महत्वपूर्ण व उल्लेखनीय माना जाएगा। नवगीत दशकों के प्रकाशन की वजह से। जिस पर विस्तृत चर्चा भी आगे होगी पर इतना तय है कि उन्होंने प्रवृत्तियों का निर्धारण, नवगीत की विकास यात्रा का क्रमिक लेखा-जोखा तथा एक निश्चित आयाम पर चुने हुए गीतों को इस माध्यम से इस प्रकार प्रस्तुत किया कि आगे कोई भी नवगीत का विद्वान हो सकता था—थोड़ी सी कदम ताल भंगकरके अथवा चाल बदल के और यों उन्होंने एक स्पष्ट नयी गीतधारा का संपूर्ण दर्शन पहली बार कराया—अपने कुशल सम्पादन और सोच से। फिर क्या था—नवगीत का सम्राट बंध गया एक मेला सा लग गया। 'यात्रा में साथ-साथ' भी और अलग होकर भी रहने की कवायदें हुईं। अद्भुत बात यह रही कि सप्तकों के प्रकाशन के बाद अज्ञेयवाद की जो स्थिति हुई, वही शम्भुनाथ सिंह के बाद गीत दशकों की हुई तुरन्त। यह संयोग ही रहा कि नवगीत दशक की शुरुआती भूमिका में अज्ञेय के समानान्तर चलने का संकेत शम्भुनाथ सिंह द्वारा दिए जाने के बाद उनका नवगीत आन्दोलन वैसे ही मत-मतान्तरों में उलझ गया जैसे सप्तकों के बाद अज्ञेयवाद। नवगीत भी पूरी तरह से व्याख्यायित होने से पहले ही उसी तर्जपर विकेन्द्रीकृत शिविरबद्धता की भेंट चढ़ गया यहाँ तक कि उनके पण्डाल से उठकर कुछ शिविर स्वायत्त होकर अन्यत्र कार्यालयीन हो गए। ठाकुर भाई के गीत यद्यपि तत्कालीन कविता धारा के नये गीत थे पर नवगीत आन्दोलन में उनकी भूमिका को नकारा जा ही नहीं सकता था। पर गीतों के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उन्हें पूर्णतया स्वीकार करने में एक दिक्कत थी। वे नवता की प्रमाणिक व हृदयस्पर्शी भंगिमाएँ अपने गीतों में समग्र रूप से संजाये बैठे थे जिन्हें वे लोक की जुबान से उठाकर लाये थे जो मन पर समग्र रूप से अपनी अलग छाप छोड़ रही थीं सो वे प्रवर्तक का खिताब और तब कमोवेश नेतृत्व भी झटक सकते थे। ऐसे में अजीब कशमकश में नवगीत के उन्नायकों और नवगीत दशकों की चिन्तना रही होगी। किसी ऐसे व्यक्तित्व की तलाश का सवाल सामने आया होगा जो लाज रख सके। साथ ही वह कविता का पहलवान भी हो जिससे फिर दूसरा कोई दावेदारी की हिम्मत न जुटा सके। इतनी बड़ी कद-काठ आधुनिक कविता में (छायावाद से लेकर तत्कालीन संदर्भ तक) निराला के अलावा और किसके पास हो सकती थी—सोने में सुहागा यह कि निराला के गीतों में समाजिकता का पुट भी नयी भंगिमा के रूप में प्रमाणित करने की गुंजाइश भी साफ झलकती रही थी। फिर निराला ने तंगदस्ती और फटेहाली की जिन्दगी गुजारकर उसके चिथड़ों से एक संपूर्ण—समग्र व विराट कविता सृष्टि रची थी सो उन टुकड़ों में वे गीत तो थे ही जो फटे हाल समाज के दृष्टता और भोक्ता के भावावेग भी थे—और आज के मायनों में कविता की समाजवादी अभिव्यक्ति के सच्चे प्रमाण भी थे सो उन्हें पीछे से पकड़कर इस दंगल में लाने की ठानी गई। वे अपनी जिन्दगी भर जीने की जद्दोजहद में जिस तरह फंसे रहे उसी तरह नवगीत की जिन्दगी की जद्दोजहद में भी यों फँसा दिए गए। जिस संज्ञा का प्रथम प्रयोग छठवें दशक की विदाई बेला में हुआ तथा प्रयोगकर्ता ने यह भी कहा कि समकालीन हिन्दी कविता की महत्वपूर्ण और महत्वहीन रचनाओं के विस्तृत आन्दोलन में गीत परम्परा नवगीत के निकाय में परिणति पाने को सचेष्ट है। यानी उस समय तक गीत की नवगीत में परिणति नहीं हुई थी। चेष्टाभर चल रही थी उस सचेष्ट संज्ञाधारी विधा के प्रवर्तक को चौथाई शती पीछे से तलाशकर निकाला गया। यानी जो नवगीत आगे चलकर अपना स्वरूप गढ़ेगा और जिसका हो हल्ला आगे चलकर सभी मचाएंगे उसका प्रवर्तन पहले ही हो चुका है। हो सकता है कि इस दृष्टिकोण ने भी काम किया हो कि किसी का नामकरण तब तक न किया जाए जब तक पूरी तौर पर पक्का न हो जाए कि वह 'यथानामे तथा गुणे' ही होगा। पर उस समय तक अपने स्वरूप के लिए मात्र सचेष्ट, विधा पर यह दृष्टिकोण भी नहीं फबता। यों निराला हमारे बैसवारा (संपादक का पैतृक निवास क्षेत्र जो स्थानीय क्षत्रिय-राजपूतों की एक विशिष्ट उपजाति 'बैस' के बाहुल्य की वजह से इसी नाम से जाना जाता है) के थे सो हम लोग अच्छी तरह जानते ही हैं कि वे अच्छे पहलवान भी थे। सो इस दौर की कविता के सरगना उनको साथ रखने की चाल में उन्हें अब भी हलाकान करते रहते हैं। जनवादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, परम्परावादी, और आधुनिकतावादी सभी अपनी बहसों में प्रवर्तन के बिन्दु पर निराला को खींच लाते हैं। जोकि व्यक्तिगत रूप से इस सम्पादक को खुशी है—गर्व है कि बगैर उसकी जँवार के इस अखाड़ेबाज पहलवान के कविता का कोई दंगल हो ही नहीं सकता। अब यह सब नवगीत के साथ करने में बाधाएँ आई—उसके सुगढ़ इतिहास के रेखांकन की, कालक्रम के निर्धारण की तथा उसके कविता में स्थापना और जिजीविषु संतुलन की। विशिष्ट प्रवृत्तियों के आकलन में भी धींगामुश्ती हुई। कई कविता विश्लेषकों ने जातीय बोध को संरक्षित करते हुए इधर ध्यान भी दिया। डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने आधुनिक समाज को नवगीत की राग भरी आग से तापित करने का प्रयत्न भी किया जिससे नवगीत की एक खास विशिष्टता उजागर हो सके और ऐतिहासिक कम की भी एक स्पष्ट और साफ सुथरी अनुरेख खींचने के लिए आधार मिल सके जो उसका परवर्ती (पूर्ववर्ती भी) राग सिद्ध हो सके, और इस नए रागात्मक स्वरूप को प्रमाणिकता भी मिल सके। किन्तु कुछ लोगों ने जल्दबाजी में अपना-अपना शास्त्र गढ़ने के फेर में अपना-अपना चलन चलाने का मन बना लिया और प्राध्यापकीय मानसिकता का

गणित गढ़ने लगे। क्योंकि उस समय तक नवगीत का समीक्षा साहित्य परती जमीन सा दूर-दूर तक फसलों की अन्याय्य संभावनाओं के साथ पसरा पड़ा था—इक्का—दुक्का व्याख्याओं और व्यवस्थाओं की अस्पष्ट कटी-फटी टेकरियों को छोड़कर। जिसने भी जैसे भी और जितना भी पाया उस पर अपने अपने ढंग से अपना-अपना कब्जा जमाना शुरू कर दिया।

वे जो इसकी उपजाऊ धरती पर कीमती फसलों के आग्रही बनकर इसे समीक्षकीय स्तर पर खेतिहर बनाने की ललक में उतावले हो उठे थे, स्वच्छन्द सृजन स्तर से लेकर व्याख्या स्तर तक आपाधापी और अफरातफरी मचाने लगे। कुछ लोग संकेतों को ही नवगीत की अनिवार्यता मानकर उन्हें लोकगीतों के स्तर तक ढालने लगे। कुछ तो दार्शनिक भावबोध के टुकड़े काट-काटकर उस पर रहस्यवादी भारतीय दर्शन का राग चिपकाने लगे। कुछ लोग प्रतिक्रियात्मक रूप से निखालिस परंपरा के नाम पर गीत की दुहाई देते हुए पुरखों की देहरी पर सिर पटकने लगे और कुछ अधुनातन बोध की चिन्ता में भाषा का कचूमर निकालकर लय को जीवन की वीभत्सताओं के तारों सा तानने लगे और यहाँ तक कि कुछ नए अवतरित गीतकार तमाम पूर्ववर्ती और समकालीन गीतों के इधर-उधर के चटकीले पेबंद जोड़कर आज की फैशनेबल डिजाइनें तैयार करने लगे। ऐसे संकलन भी छपे और नवगीतकारों में उनके नाम भी बाकायदा दर्ज हुए। हिन्दी चूंकि एक भाषा-समूह का नाम है। बोली-बानी से लेकर विविध भाषाई क्षेत्रों तक उसका प्रसार क्षेत्र है इसलिए उसमें टटकापन लाने हेतु नये प्रयोग होते ही रहते हैं जिससे भाषा अधिकाधिक सृजनशील बनती रहती है। परिवेश के दबावों तथा समय के संकेतों को ग्रहण करने के लिए भाषा में ये परिवर्तन होते ही रहते हैं या भाषा अपना कलेवर बदलती ही रहती है जहाँ देशज शब्दों की अनगढ़ता भी अर्थवान हो सकती है साथ ही अन्य भाषाओं की अर्थध्वनियां भी। पर किसी सार्थक रचना कर्म में ऐसी धींगामुश्ती जो नवगीत के साथ इस दौर में हुई कितनी सार्थक हो सकती है यह नवगीत के मनीषियों को जरूर समझना चाहिए—अपनी फुटकर गोल बंदियों की मानसिकता से बाहर निकलकर। नवगीत की ऐसी अस्त-व्यस्तताओं को देखकर जो अन्य काव्य चिन्तक, आचार्य, अध्येयता और शिल्प के पारखी इस नवगीत विधा से आकृष्ट होकर उसे समीक्षा पद्धति से मांजने-संवारने की सदेच्छा लेकर इसके मंच तक आने का मन बनाने लगे थे, उन्होंने अपने हाथ पीछे खींच लिए। इस हुल्लड़ बाजी के माहौल में सृजन की पारदर्शिता प्रकट करने की धृष्टता कौन करे? डॉ० विद्यानिवास मिश्र, धर्मवीर भारती, आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, प्रभाकर श्रोत्रिय, रामदरस मिश्र, जगदीश गुप्त, कन्हैयालाल नन्दन, भवदेव पाण्डेय, विश्वनाथ प्रसाद, विश्वनाथ त्रिपाठी, परमानन्द श्रीवास्तव, सत्येन्द्र शर्मा यहाँ तक कि शिवप्रसाद सिंह आदि जो अपने आलेखों-प्रयासों से इस विधा के पक्ष में अपनी चिन्ताएँ प्रकट करने लगे थे—और इसके लिए प्रमाणिकता जुटाने के रास्तों पर अपने-अपने ढंग से रोशनी भी करने लगे थे—वे सब हिचक गए। उन्हें शायद लगने लगा कि किसी की छाती में जब बाल नहीं उग रहे हैं तो खाल कैसे निकाली जाए। फिर भी तमाम नवगीतकार अपनी-अपनी छप्पन छुरी में धार रखकर समीक्षा के नाम पर उल्टी-सीधी चीड़-फाड़ और सृजन के नाम पर मरहम पट्टी करने में जुट गए—जुटे रहे। डॉ० राजेन्द्र गौतम ने नवगीत की इन्हीं चिन्तनाओं को लेकर तमाम आलेखों के माध्यम से अपनी बात कही और इस नये गीत के नक्कारखाने में 'नवगीत: उद्भव और विकास' नामक समीक्षा पुस्तक लेकर सामने आए। इस पुस्तक की अवधारणाएँ अपनी सीमाओं में नवगीत को सही परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयास कर पातीं या सहृदय पाठक और बौद्धिक समीक्षा-संसार उस पर चिन्तन-मनन कर अपनी एक अच्छी सी राय बना पाता इसके पूर्व ही वह विवादित हो गई इस आरोप को लेकर कि इसमें किसी विशिष्ट गीतकार को श्रेष्ठ नवगीतकार के रूप में स्थापित करने की कवायद है और यही इसका हेतु है। हो सकता है कि डॉ० गौतम अपने विचारों की मीमांसा में दिए गये उद्धरणों और उनकी पुष्टि के निजी वक्तव्यों में कही कुछ आग्रही या असंतुलित लगे हों पर पहली बार नवगीत पर एक पूरा समीक्षा ग्रन्थ प्रस्तुत कर पाने का श्रेय उनके खाते में जाता ही है। वैसे त्रिलोचन जी ने शायद ऐसी ही समीक्षकीय स्थितियों से संबद्ध आरोपों से बचने के लिए सचेत करते हुए कहा है कि 'किसी भी काव्य का अध्ययन करने से पहले आत्मपरीक्षा कर लेना चाहिए। किसी भी प्रकार की संकीर्णता काव्य सौंदर्य को अविहित कर लेती है। किसी कवि के प्रति विशेष श्रद्धा दूसरे कवि का स्वरूप बोध नहीं होने देती। उन्होंने यह भी कहा कि 'कभी-कभी विचार विशेष के आग्रह से भी काव्य समझने में बाधा खड़ी होती है'। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि इस विचार विशेष का आग्रह वह आग्रह नहीं है जो प्रतिभा से निकलकर किन्हीं अछूती चिन्तन श्रंखलाओं से तना-बना है। साफ संकेत उस वैचारिक आग्रह से है जो सीख और प्रायः उपलब्ध पाठ के सप्रेषण (दबाव) से उपजता है। फिर भी डॉ० गौतम ने अपनी इस समीक्षा पुस्तक में नवगीत के समीक्षकीय संदर्भों की तमाम रिक्तियां भरी, तमाम विखरावों को समेटकर कमबद्ध किया जो आगे के विचार-विमर्श हेतु काफी सहयोगी व सार्थक हैं। लेकिन उनके द्वारा भी संजोए नवगीत विकासक्रम के मुहाने पर निराला ही खड़े मिले। निराला के स्वस्थ पुनर्मूल्यांकन के संदर्भ में एक जगह डा० बच्चन सिंह लिखते हैं कि 'निराला के मूल्यांकन की ट्रेजडी उनके जीवन की ट्रेजडी से कम दर्दनाक नहीं है। यह ट्रेजडी वहीं से शुरू होती है जहाँ से उन्हें मसीहा बनाने का प्रयास आरंभ हुआ। उन्हें युगाराध्य, महाप्राण आदि विशेषणों से अलंकृत किया जाने लगा। घर-घर में उनकी तस्वीरें टँग गईं पुष्प और अक्षत से पूजा होने लगी'। हम इसमें इतना और जोड़ देते हैं कि बहुत जरूरी लगने पर किसी स्वतः विकासमान कविता-वृत्ति के इतिहास को डराने का काम भी उन्हें सामने खड़ा करके लिया जाने लगा। वास्तव में हम किसी को पूजने तभी लगते हैं जब उसकी विराटता और ऊँचाई को मापने में असमर्थ हो जाते हैं—छोटे पड़ जाते हैं। समर में समर्पण का भाव भी तभी बनता है। हमें भी निराला के मूल्यांकन में बार-बार बहुत कमी दिखाई देती है कि हम उनकी विराटता के अगम छोरों तक क्यों नहीं पहुँच पाते। जहाँ तक गीतों का संदर्भ है छायावाद के दौर में निराला का सामाजिक स्वर एक बड़ी कान्ति का संकेत था। यदि कोई कह दे कि उनके बाद वाले गीत मानसिक प्रक्षेप के गीत हैं तो भी वह विशिष्ट प्रक्षिप्तता जिसने निराला को जकड़ा होगा भोगे हुए जीवन के इतिहास और उससे आलोकित कान्ति का आवेग ही हो सकता है जिसने जिए गए जीवन के

निरंतर दबाव से अपनी लय का एक भिन्न एवं विखरा अचेत भाव ग्रहण कर लिया हो। सो हो सकता है कि विचारों और आवेगों के संतुलन-कम में कहीं कुछ बाध्यता झलकती हो पर सृजन के मूल संकेत तो दीप्त होकर स्पष्ट हो ही जाते हैं। फिर उनकी विक्षिप्तता के प्रभाव ने जो क्षति पहुँचाई होगी उसने बौद्धिक आयाम को ही कमोवेश विश्रृंखलित किया होगा। उधर के गीतों में उस समय सृजन के साथ किसी शक्तिशाली बौद्धिक आयाम की खास जरूरत नहीं महसूस होती थी सो एक बिखरी तन्मयता में घनीभूत अनुभूतियों की सघनता तथा जीवन के निरंतर दबाव से उपजा तनाव ही निराला की प्रक्षिप्त गीतधर्मिता के लिए पर्याप्त था तो निराला के गीत भी निराला की सामयिक विराटता के ही गीत हैं जैसे छन्द के बन्धनों को तोड़कर नई दिशाओं में निकली उनकी ऊर्जस्वित कविता। निराला के कविता सदन में द्वार ही द्वार है जिनसे जुड़ी गलियाँ हैं, रास्ते हैं, और राजपथ भी। निराला फिर भी सबसे दूर खड़े दिखते हैं—अजान बाहु—दीर्घकाय। 'नवगीत, नवलय, ताल-छंद नव' की सोच ही हमें काव्य की आधुनिक विकासमान चेतनधाराओं से जोड़ती है। विकास के ये धारा-संकेत हिन्दी कविता के हर वाद और हर विधा में निराला से उपलब्ध हो जायेंगे। पर बीच के कालखंड के 'गैप' या प्रवाह की मंदता से नवजागरण का जोश, लोकप्रियता की तलाश और बाद में जाकर नवता की खोज का अभियान ओर इसी अभियान के प्रस्थान विन्दु पर 'वंशी और मादल' के समग्र लोक संपृक्ति के स्वरो की आकस्मिक षूँज और फिर नवगीत के एक नये संसार का कोलाहल और फिर आधे रास्ते में ही आज की चिल्लगुहार सेना के बैंड, बाजों से धमककर जूझती सी जीवन के रण गान की बहुवाद्यबाली विस्फोटक धुन ने हिन्दी कविता में एक शोर का समाँ बाँध दिया। गीत की विडम्बना देखिए कि जिस कालखंड में अज्ञेय छन्दमुक्त कविता का वितान तानकर प्रयोग के नाम पर उसे हथिया ले गए उसी काल खंड में निराला अपनी कविताओं के आधे-अधूरे मूल्यांकन के विडम्बना क्षेत्र तक ही सीमित कर दिए गए। उसी में ठाकुर प्रसाद सिंह नवता की प्रमाणिकता चटक-प्रखर प्रेरक रंगों, रागरंजित लोकतत्त्व तथा विस्तृत सामाजिक संदर्भों से सिद्ध करने के बाद भी नवगीत को नहीं हथिया पाए और नवगीत भी कविता की अन्यान्य वादों की तरह निराला की जर्जर झोली में अपना एक निश्चित विकास कम रचने के लिए सामाजिकता के अनुसंधान का श्रेय लेकर पड़ा रह गया। नवगीत की विकास यात्रा के कम में उसकी ऐतिहासिक संरचना स्पष्ट करने के लिए हम आज भी उनके गीतों को नवगीत की देहरी पर रखकर उन पर पुष्प-अक्षत चढ़ाते हैं और उनका अभिनंदन-वंदन कर लेते हैं। निराला के प्रति यह श्रद्धाभाव गीत जगत में सार्वभौम है। 'नये-पुराने' की भी वही भूमिका हो सकती है। प्रसिद्ध समीक्षक नामवर सिंह जी भी निराला के गीतों में सरलीकरण का एक चलता-फिरता हवाला देकर और आज के गीतकारों को उनका भूत दिखाकर आश्वस्त हो गए और तदन्तर गीत के दृश्यपटल से अदृश्य होकर अन्यत्र कहीं लग गए।

'नये-पुराने' तो गांव की माटी का ही विवेक है और गीत उस माटी का मन। किस्से कहानियों में गांव को मजा आता ही है इसलिए गीत की इस कहानी में भी अगर इस माटी को मजा आ रहा है (जैसे गीतों के पाठन-श्रवण में आता रहा है) तो कुछ अद्भुत सा नहीं माना जाना चाहिए। आज नवगीत या उसका शास्त्र जिस तर्ज पर और जितनी बेसब्री से रचा जा रहा है, वह शायद यह मानकर कि आज के दौर में सभी काव्य विधाओं के सामने उसकी ही 'पौ बारह' है। उसके दोनों हाथों में लड्डू हैं। बाएं हाथ में पारम्परिक गीत की लय और दायें हाथ में नई कविता की अर्थलय बीच में वह (नवगीत) कथित जिन्दगी की लय सहेजे काल के सारे आयामों में उपस्थित रहना चाहता है। जबकि ऐसे समय जरूरत है अनर्थ से बचने की और बचने की उस अहंवादी एकल चीत्कार से कि—'कालजयी है गीत'। कालजयी तो रचना होती है न कि कोई विधा विशेष। कोई-कोई सृजन ही ऐसा होता है जो किन्हीं विशिष्ट क्षणों में किसी विशिष्ट ऊँचाई पर जाकर स्वयं ही काल के ऊपर हो जाता है और वह किसी भी विधा में हो सकता है बशर्ते तत्कालीन संवेदनाएं उसे स्वीकार कर रहीं हों। ऐसा रचना कर्म दूसरे ही काल के वक्ष पर अंकित सर्जक के विराट व्यक्तित्व की लिपि सा दिखने लगता है एक चमत्कार सा। शायद तुलसी और निराला भी इन्हीं चमत्कारों में से ही थे। इन्हीं चमत्कारों के चलते निराला के गीतों में प्रथम बार उभरी प्रखर सामाजिक चिन्तनाओं की भूमिका को देखते हुए यदि 20-30 वर्ष पीछे जाकर नवगीत के प्रवर्तन का श्रेय भी अन्य तमाम कविता की उपविधाओं की तरह निराला को ही देने से नवगीत का भला हो सकता है तो 'नये-पुराने' को प्रसन्नता ही है—पारिवारिक और पैतृक भावना की वजह से कि वहां भी हमारे निराला जी मौजूद हैं। पर आज प्रमुख और वास्तविक चिन्ता वर्तमान सांस्कृतिक परिवेश में गीतों की भूमिका और उनके स्वरूप के तलाश की ही होनी चाहिए। सृजन कर्म का इतिहास तो स्वयं ही अपने को तलाश लेता है इसलिए उसकी चिन्ता में बहुत दुबले होने से सर्जनात्मक शक्ति की फिजूल खर्ची की संभावनाएं ही ज्यादा बनती हैं।

आज के गीत से जुड़े कुछ प्रश्न बड़े महत्वपूर्ण हैं जिनमें प्रमुख हैं कविता के इतिहास में उसके एकात्म एवं अंतरंग अस्तित्व और पहचान की स्थिति तथा वस्तुपरक बोधगम्यता के निर्वाह में नई संवेदनाओं के साथ अभिव्यक्ति को अधिक व्यापक और सहज बनाने की बेचैनी। गीत को जब हम सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हैं तो उसका सीधा अर्थ है कि हम गीत को भारतीय मन से जोड़कर देख रहे हैं और गीत पर इस मन की समग्र सांस्कृतिक संकुलता की अभिव्यंजना का दायित्व भी स्वीकार करते हैं तो क्या हम फिर अपनी संस्कृति के नाम पर होली की आग और जलते हुए गांव को एक साथ तापते हुए गीतों के साथ सिर्फ फाग ही गाते रहें, रंग ही उड़ाते रहें, सूता-परेता, पीपल की छांव और पोखर के लिए तड़पने, चिरई-चमगुददर के लिए विसूरने या उन्हें रागरंजित भर करने से क्या यह समय की आग बुझ जाएगी। इस आग को बुझाने में यदि इन प्राकृत उपादानों का उपयोग इन्हें संवेद्य बनाकर संवेदनशील औजारों के रूप में किया जाए ओर इस संवेदनाओं को द्रवीभूत कर पानी की शक्ल में ढाला जाए तो गीत की सार्थकता अपने आप माध्यम के बरअक्स हो सकेगी। अन्यथा सांस्कृतिक दायित्वबोध का हिमायती गीत

मौजूदा समय संदर्भ की आग से बहिर्मुखी या निरपेक्ष ही माना जाएगा। अपने समय की प्रासंगिकता से मुंह मोड़कर भाग जाने पर इतिहास की स्मृतियों में वह कैसे शेष रह सकेगा। गीत यदि समय संदर्भ की इस आग को अपने तनई बोझ मानता है और उसमें खुद सुलग जाने की आशंका से आत्मकेन्द्रित होकर अलग पड़ जाने का डर पालता है तो उसे निर्भय होने के लिए अपना विश्वास भाषा की जिम्मेदारी पर छोड़ देना चाहिए—वह जो परिवर्तनशीलता और सृजनशीलता के गुण धर्म से सम्पन्न है—जो स्थितियों—रूपों—वस्तुओं के प्रभावों के आपसी मानस—मंथन से सहज होकर निथर आती है और जो सर्जनात्मक भाषा कही जाती है। सृजन ही जिसके अर्थान्तरों का ध्येय बनता है और जो सर्जना के क्षणों में संवेदनाओं की लय के साथ खुद—ब—खुद अभिव्यक्ति की सतह तक आती है। भाव के बोझ को उठाए गीत की यह भाषा चूंकि सहज प्रवाह में होती है इसलिए भारमुक्त होती है क्योंकि जरा सा अटकने पर वह अपने ही बोझ से दरक जाएगी। अतः ऐसी भाषा में प्रवाह में गीत बाकी बोझ उठाकर अपनी लय में चल सकेगा। गीत की सर्जनात्मक भाषा की पहचान उसका संवादी स्वर, समय की जटिल बोधगम्यता और सहजता का राग संश्लेषित व लयात्मक निर्वाह है। समय की बोधगम्यता को जब भी लयात्मक अभिव्यक्ति के फलक पर उठाया जायेगा तो समय के वनज (इतिहास) से मनोलय पर भी बल पड़ेगा और वहां तब स्वाभाविक रूप से लय की ऋजुता में एक ढलान बनेगा जिससे भाषा का प्रवाह स्वयं तेज हो जायेगा। इस वेगवती भाषा के प्रवाह में पिरोई मनोलय वस्तुत्व को पारदर्शिता के स्तर पर विश्लेषित करती चलेगी और एक सांगीतिक त्वरण या एक अवरोहात्मक संवेग रचना को धारदार भी बनाएगा। ऐसे में ही कहीं कोई लय वर्तुलाकार भी हो जायेगी। यहां उसके यथार्थ प्रेषण के आग्रह का दबाव ही लय के इस रूप का कारक होगा। इस संदर्भ में यह बात भी महत्वपूर्ण हो सकती है कि छन्दमुक्त समकालीन कविता के औजारों का इस्तेमाल गीतों में करना कहां तक समीचीन है। तो इस पर हम कहेंगे कि छन्दमुक्त कविता के सारे औजार तो गीत की झोली के हैं ही क्योंकि वे प्रथमतया कविता के औजार हैं और गीत भी कविता है। जातीयता की विशिष्ट बेकली पर प्रखर प्रभाव और राग बोध की लयात्मक चाह गीत के अतिरिक्त औजार हैं जो समकालीन कविता के गीतों से इतर इस तरह मौलिक औजारों के रूप में कहीं इस्तेमाल नहीं किए जाते क्योंकि संवेदन के अधिक खुरदुरे होने के कारण ये उस विशिष्ट खांचे में कविता को सांगोपांग नहीं बना सकते। यदि इन औजारों के साथ नई कविता के औजारों को भी शामिल कर कुल का उपयोग गीतों के लिए किया जाता है तो उसकी पहचान और प्रासंगिकता को कोई खतरा नहीं है। पहचान के लिए उसका संरचना शिल्प तत्व ही काफी है। इस विशिष्ट पहचान के साथ ही समकालीन कविता के गीत के युग—संवेद्य माध्यम के रूप में सांस्कृतिक और साहित्यिक इतिहास में दर्ज हो गया है।

यह अंक इस सम्पादक की अस्वस्थता के बीच अधिक विलम्ब हो जाने के भय से बड़ी हड़बड़ी में निकला है इसलिए इस अंक की सामग्री पर कोई टिप्पणी न देकर इसे सीधे पाठकों के हाथों में सौंपा जा रहा है। वे ही इसे जांचे परखें। मॉट्रियल (कनाडा) से डॉ० विजय माथुर के हम बहुत आभारी हैं जिन्होंने दूरभाष पर स्वयं 'नये-पुराने' से सम्पर्क करके उसका साहस बढ़ाया और अपेक्षित सहयोग व सम्बल प्रदान किया। पद्मश्री श्री कन्हैया लाल नन्दन ने अपने स्तम्भ 'जरिया—नजरिया' में 'नये-पुराने' की महत्वपूर्ण चर्चा करके गँवई—गाँव से निकलने वाली इस पत्रिका को ऊर्जा दी और साथ ही अपनी सार्थक श्रुभकामनाएँ भी। हम उनके इस सहयोग के प्रति बहुत विनत हैं। प्रयास रहेगा कि अगला अंक भी शीघ्र ही आप तक पहुंचे। हमें खेद है कि कुछ गीतकारों की पूर्व स्वीकृत रचनायें इस अंक में नहीं जा पायीं। हम उन्हें अगले अंकों में निश्चय ही समायोजित करेंगे।

सम्पर्क—
ग्राम—गौरा रूपई
पो.—लालूमऊ
जनपद—रायबरेली (उ.प्र.)

(नये पुराने गीत अंक-4, सम्पादक—दिनेश सिंह, प्रकाशक—राजेन्द्र राजन, द्वारा—नेहरू युवा केन्द्र, सीतापुर, उ. प्र., मुद्रक—माहेश्वरी एण्ड संस, नाका हिंडोला, लखनऊ, उ.प्र., वर्ष—1999, मूल्य—रु 40/-, प्रष्ठ—200)